REVIEW OF RESEARCH
IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF) UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514 ISSN: 2249-894X
VOLUME - 7 | ISSUE - 7 | APRIL - 2018

प्राचीन भारत में नाट्यशास्त्र का उद्भव एवं विकास

डॉ. नरेन्द्र सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर,
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व,
विद्यान्त हिन्दू पी0जी0 कालेज, लखनऊ.

भारतीय सन्दर्भ में जब हम किसी विद्या और कला के उद्गम का अन्वेषण प्रारम्भ करते हैं, तो प्राचीन ग्रन्थों का आलोचन करते समय भारतीय चिन्तन की एक विशेष पद्धति 'ह्रासवाद' का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। ह्रासवाद की परिधि से बहिर्भूत होने पर, तथ्यों के गहन अनुशीलन से ज्ञात होता है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वह विद्या और कला कितनी विस्तृत अपार सौन्दर्य से ओत–प्रोत तथा लोकप्रिय थी, किन्तु उनका हमारे काल तक आते–आते इस भाँति का ह्रास हो चुका है कि उसके प्रारम्भिक रूप का निर्धारण कल्पना के सहारे करना भी सुकर नहीं है। यह सर्वप्रतिष्ठित तथ्य है कि देववाणी में निबद्ध विशाल तथा बहुआयामी साहित्य विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस विशाल साहित्य में प्राचीन भारत का इतिहास निरुद्ध है। वर्तमान परिवेश में इसके परिमोक्ष की महती आवश्यकता है। पुरा समाज की वाह्य एवं अभ्यान्तर प्रकृतियों का निदर्शन उक्त साहित्य के माध्यम से ही किया जा सकता है। किंबहुना यदि संस्कृत साहित्य को भारतीय संस्कृति की संवाहिका एवं जीवन–शैली की निदर्शना कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यद्यपि अपनी बद्धमूल अवधारणाओं के कारण पाश्चात्य विचारकों ने यह कहा कि भारतीय संस्कृत–साहित्य अलंकारिक पृष्ठभूमि पर आधारित कृत्रिम उपादान है किन्तु इस भांति के विचारक संस्कृत–साहित्य की नैसर्गिकता, स्वाभाविकता एवं गुरुता की परख में सर्वथा असमर्थ हैं। प्राप्त तथ्यों की गवेषणा उनकी अवधारणाओं को निर्मूल कर देती है। पाण्डित्य काव्य की कसौटी नहीं हो सकता क्योंकि इससे बुद्धि प्रधान व्यक्ति ही लाभान्वित होते हैं। यही कारण है कि संस्कृत के आद्य आलोचक भामह ने कहा है कि 'आविद्वदगंनाबाल प्रसिद्वार्थ' अर्थात् काव्य केवल विद्वानों की तीक्ष्ण बुद्धि की ही विषयवस्तु नहीं है अपितु वह शास्त्र से अनभिज्ञ स्त्रियों तथा बच्चों के समझ में आने वाली वस्तु है।

प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा के दो रूप प्रचलित थे– वैदिक तथा लौकिक। वैदिक भाषा में संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, सूत्र ग्रन्थों तथा उपनिषदों आदि का प्रणयन हुआ तथा लौकिक भाषा में महाकाव्यों आदि का। संस्कृत के साहित्यशास्त्रियों ने काव्य को दो उपवर्गों में विभाजित किया–एक दृश्य तथा दूसरा श्रव्य।[1] यद्यपि दोनों काव्य–विधाओं की भूयसी प्रतिष्ठा है कि वे जनजीवन के मनोभावों का, ह्रदय की वृत्तियों का तथा विभिन्न दशाओं में उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारों का चित्रण बड़ी ही कमनीयता से प्रस्तुत करते हैं तथा मानव की कोमल वृत्तियों के वर्णन में जितना कृतकार्य है उतना ही उसकी उग्र वृत्तियों के अंकन में समर्थ है। राग–द्वेष, हर्ष–विषाद, करुणा–प्रेम, उत्साह और अवसाद आदि जितने भाव मानव ह्रदय को अपना रंग स्थल बनाया करते हैं उनका चित्रण भी उनके रचनाकारों की ललित लेखनी से अनुस्यूत होते हैं। राजा–महाराजाओं के वैभव–सम्पन्न दरबारों में अपना जीवन व्यतीत करने वाले संस्कृत के कवियों में वैभव की परिधि से परे जाकर सामान्य जन–जीवन से, उनके ह्रदय में उत्पन्न होने वाली भावनाओं से तथा आकाक्षांओं को कुचलने वाली उनकी अभावमयी जीवन–शैली से लोगों का घनिष्ठ परिचय कराया तथापि श्रव्य–काव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही। इसका प्रधान कारण यह है कि श्रव्य–काव्य की रसानुभूति के लिये रस–चर्वणा तथा काव्य के विविध गुणों का बोध आवश्यक है। श्रव्य काव्य श्रवण–मार्ग से ह्रदयस्थ होता है, पुनः इसका रस–बोध एवं अर्थ–बोध होता है, तदुपरान्त आनन्द उत्पन्न करता है। दृश्य–काव्य नेत्र–माार्ग से सीधे ह्रदय को चमत्कृत

करता है। किसी वस्तु का देखने का आनन्द सुनने की अपेक्षा अधिक होता है। उसकी वेषभूषा, नेपथ्य, साजसज्जा, आदि संविधानों से दर्शकों पर अमिट प्रभाव तो पड़ता ही है साथ ही हृदय में आनन्द की अनुभूति भी होती है। यही कारण है कि श्रव्य–काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य को अधिक महत्ता प्रदान की गयी।[2]

दृश्य काव्य की अपर संज्ञा रूपक है क्योंकि इसका अभिनय किया जाता है। अभिनेता अभिनय की अवस्था में अपने ऊपर नाटकीय पात्र के स्वरूप का आरोप कर लेता है, अतः इसे रूपक संज्ञा प्रदान की गयी। रूप के 10 भेद है। (1) नाटक (2) प्रकरण (3) भाण (4) प्रहसन (5) डिम (6) व्यायोग (7) समवकार (8) वीथि (9) अंक (10) ईहामृग।[3] रूपक के इन विविध रूपों में नाटक को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। इस महत्ता का प्रधान कारण उसका मूलोद्देश्य है। यह सर्वज्ञात तथ्य है कि विशाल वैदिक साहित्य न तो सहज ग्राह्य था और न ही सार्ववर्णिक। द्विजेतर वर्ण, महिलाएं तथा बालक इसके अध्ययन एवं बोध से वंचित थे। इस पर द्विज मात्र का एकाधिकार स्थापित हो चुका था। अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि काव्य–ज्ञान के एकाधिकार को खण्डित किया जाय तथा साहित्य के क्षेत्र में भी समाजवाद की स्थापना की जाय। परिणामतः नाट्य विद्या का उद्भव एवं विकास हुआ। इसे यदि साहित्य के क्षेत्र में समाजवाद का प्रथम सोपान कहा जाय तो अध्येताओं को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि यह सार्ववर्णिक था। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी था। इसका प्रभाव भी विशेष अभिरुचि प्रधान व्यक्ति पर नहीं होता अपितु यह सार्वजनिक मनोरंजन होने के कारण सर्व समाज के लिये ग्राह्य एवं उपादेय है। पुनः इसकी विषय–वस्तु को भी परिधि में परिबद्ध नहीं किया जा सकता।[4] इसकी प्रभावोत्पादकता भी अद्वितीय है। यह भग्न–साहस व्यक्तियों में साहस का संचार करता है, साहसयुक्त व्यक्तियों की भुजाओं में शम्पाओं सा स्फुरण उत्पन्न करता हैं, अज्ञानियों के अज्ञानान्धकार का हरण करता है तथा विद्वानों की विद्वता को उत्कृष्ट करता है। यह भी ध्यातव्य है कि साहित्यशास्त्रियों ने शासन–रचना के लोक–कल्याण तथा लोक–रंजन दो प्रधान उद्देश्य स्वीकार किये है। ऐसे ग्रन्थों की विरलता है जो दोनों उद्देश्यों का समान रूप से संवहन करता हो किन्तु नाट्य ग्रन्थों में दोनों का समान संयुजन प्राप्त होता है।

काव्योद्देश्य के साधक, सार्ववर्णिक, साहित्य के क्षेत्र में समाजवाद के संवाहक उक्त भांति के साहित्य के प्रति सन् 1788 ई0 तक अध्ययन की उपेक्षा बनी रही। अध्ययन की इस उपेक्षा का प्रधान कारण किसी तथ्य के उद्गम एवं विकास के अनुशीलन में भारतीय चिन्तनधारा पर ह्रासवाद का प्रभावी होना है। नाट्यशास्त्र का उद्भव एवं विकास भी इसका अपवाद न रह सका। जब हम प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने आरम्भिक काल में उक्त विद्या विकसित, विस्तृत एवं सर्वमान्य थी किन्तु आज उसके प्रारम्भिक रूपों को अपनी कल्पना के सहारे साकार करने में भी कठिनाई उत्पन्न होती है। उसे अपने मस्तिष्क में रूपायित कर पाना कितना कठिन है। सच तो यह है कि मध्यकाल तथा उसके बाद तक भारतीय चेतना का चतुर्मुख जागरण नहीं था। वह अपनी अन्तर्मुखता में तो जागरुक थी किन्तु व्यावहारिक रूप में उदासीन अथवा यन्त्रवत् परिचालित थी। पुनः भारतीय प्रवृत्ति में जब कोई हमारी चेतना को जागृति करता है अथवा गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाता है तो हम में चेतना का संचार होता है। संक्षेपतः हमारी चेतना का स्पन्दन दूसरों की सक्रियता एवं हस्तक्षेप से होता है। विवेच्य–विषय भी इसका अपवाद नहीं रहा तथा जब सन् 1889 ई0 में विलियम जॉस नामक विदेशी विद्वान ने कालिदास प्रणीत 'अभिज्ञान्शाकुन्तलम्' नामक नाटक का अंग्रेजी अनुवाद किया तो पाश्चात्य जगत में भारतीय नाटकों के अध्ययन के प्रति रुचि बढ़ी। परिणामतः एच0एच0 विलसन ने अपने ग्रन्थ 'सेलेक्ट स्पेसीमेन्स ऑव दि थियेटर आव हिन्दूज' जो कलकत्ता से 1826–27 में तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ, में कहा कि भारत में प्रचलित नाट्यशास्त्र जो भारत की अनेक टीकाओं तथा मूल ग्रन्थों में उद्धृत है, पुराकाल में जिसका पूर्व प्रचलन था, वह आज विलुप्त हो चुका है। इस घोषणा ने भारतीयों में चेतना का संचार किया तथा सन् 1865 ई0 में धनंजय के दशरूपक का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इसी अवधि में 'नाट्यशास्त्र' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई जिससे इस अवधारणा की पुष्टि हुई कि भारतीय 'रूपक' अथवा 'नाटक' ने शास्त्रीय रूप धारण कर लिया था। विवेच्य–विषय ने शास्त्रीय रूप तो धारण कर लिया किन्तु इसका उद्भव एवं विकास आज भी अध्येय बिन्दु बना है।

'नाट्यशास्त्र' में नाट्यवेद की उत्पत्ति विषयक एक उपाख्यान है। कथानक के अनुसार एक समय इन्द्र आदि देवता ब्रह्मा के पास पहुँचे तथा निवेदन किया कि हम ऐसा कोई खेल चाहते हैं जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों हो क्योंकि शूद्रादि के लिये वेदादि के श्रवण का निषेध हैं। आप ऐसे नवीन पंचम वेद की रचना करें जिसमें सभी

वर्णों के लोग समान भाव से सम्मिलित हो सकें।[5] उनकी प्रार्थना पर ब्रह्मा ने चारों वेदों के सार तत्वों को लेकर पंचम वेद–नाट्यवेद की रचना की। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस तत्व को ग्रहण किया।[6] इस वेद का प्रथम प्रयोग ब्रह्मा के आदेशानुसार इन्द्र के ध्वज महोत्सव में हुआ।[7] जब यह वेद प्रयुज्जमान होने लगा तो इसमें देवताओं द्वारा दैत्यों एवं दानवों का नाश दिखाया गया, परिणामतः क्षुब्ध दैत्यों एवं दानवों ने इसमें विध्न डालना प्रारम्भ कर दिया।[8] देवगण पुनः ब्रह्मा के समक्ष उपस्थित हुये अपने मनोभावों को व्यक्त किया। ब्रह्मा से विध्न–कर्ताओं ने इसका कारण अपने अपमान का प्रदर्शन बतलाया। उनका कथन था कि जब देव तथा दानव सब अपनी संतानें है तो ऐसा विभेद क्यों ?[9] ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि दैत्यगण आप न क्रोध करें और न क्षुब्ध हों, इस नाट्यवेद में केवल देवता अथवा दैत्यों का ही वर्णन नहीं होगा अपितु यह त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन होगा।[10] यहाँ भरत के कथन को दैवीय तत्व न मानकर उसके व्यावहारिक तथा उपादेय तत्व को स्वीकार करना अधिक श्रेयस्कर होगा। उक्त कथन से स्पष्ट ध्वनित होता है कि नाटक के लिए चार तत्वों– संवाद, संगीत, अभिनय तथा रस की अपरिहार्यता होती है। ऋग्वेद में संवाद–सूक्तों की प्रचुरता पाई जाती है। यम–यमी–सूक्त[11], पुरुरवा–उर्वशी संवाद[12], सरमा–पणि–संवाद[13], इन्द्र–मरुत–संवाद[14], विश्वामित्र–नदी–संवाद[15], इन्द्र–इन्द्राणी–वृषाकपि–संवाद[16], अगस्त्य–लोपामुद्रा–संवाद[17] आदि इस तथ्य का पोषण करते हैं। प्रो0 मैक्समूलर, सिलवां लेवी, ओल्डेनवर्ग आदि नाटकों की उत्पत्ति उक्त तत्वों से ही स्वीकार करते हैं। मात्र डॉ0 कीथ इन संवाद–सूक्तों को संस्कृत नाटक की आदिम अवस्था स्वीकार नहीं करते। वे इसे नाटकीय संवाद न मानकर कर्मकाण्डीय संवाद स्वीकार करते हैं।[18] सामवेद तो संगीतमय वेद ही है। यजुर्वेद के याज्ञिक क्रिया–कलाप अभिनय तत्व का संवहन करते हैं तथा अथर्ववेद में प्रायः सभी रस पाये जाते हैं। देवताओं तथा दानवों के अभिनीत संघर्ष आर्यों तथा अनार्यों के संघर्ष का प्रतीकात्मक वर्णन तथा सांस्कृतिक–संक्रमण का स्वरूप स्वीकार करना अधिक श्रेयस्कर होगा। पुनः ऋग्वेद में यह भी विवृत है कि सोम–विक्रय के समय एक प्रकार का अभिनय किया जाता था जिसका उद्देश्य लोगों का मनोरंजन था।[19]

चारों वेदों में नाटक के समस्त तत्वों के संयुजन के अतिरिक्त वैदिक–साहित्य में अनेक ऐसे शब्दों के प्रयोग प्राप्त होते हैं जो नाट्य कला के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता के एक प्रसंग से विदित होता है कि वैदिकयुगीन शैलूष व्यावसायिक रूप से नाटकों का आयोजन कर जीविकोपार्जन करते थे। इस प्रसंग में यह भी बताया गया है कि यज्ञ के अवसरों पर नृत्य–गीतादि के लिये सूत एवं शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी जो नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्याभिनय करते थे।[20]

महाकाव्यों में नाटक के कुछ अधिक स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। रामायण में 'शैलूष', 'नट', 'नर्तक', 'नाटक', 'रंगमंच' आदि का उल्लेख मिलता है।[21] राम के राज्याभिषेक के समय नटों, नर्तकों और गायकों की उपस्थिति इस बात को द्योतित करती है कि रामायण काल में नाट्यकला पूर्ण विकसित थी।[22] रामायण के अयोध्याकाण्ड (1.27) में प्रयुक्त व्यामिश्र शब्द ऐसे नाटकों की ओर संकेत करता है जिसमें भाषाओं का मिश्रण रहता था। नाटकों का आयोजन नगरों तथा प्रासादों में होता था। भरत को दुःस्वप्न दर्शन से जो खिन्नता उत्पन्न हुई थी उसके दूर करने के लिये नृत्य, गीत तथा नाटकों को ही माध्यम बनाया गया था। महाभारत के वन पर्व में नट, नर्त, गायक, रंगशाला, आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[23] नट शब्द का प्रयोग वहीं किया जाता है जिसका अर्थ श्रीधर स्वामी ने 'नवरसाभिनय चतुर' किया है। हरिवंश में रामायण पर आधारित एक कथा के अभिनय का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें विवृत है कि वज्रनाथ नामक राक्षस की नगरी में रामायण तथा कौबेररम्भाभिसार नामक नाटक का मंचन हुआ था।[24] कतिपय पुराणों में भी नाटकों के अभिनव का उल्लेख है। मार्कण्डेय पुराण में राजा शक्रजीत के पुत्र ऋतध्वज को नाटक अभिनय में रुचि लेते प्रदर्शित किया गया है।

ईसा पूर्व पांचवी शताब्दी के पाणिनि ने अष्टाध्यायी में नटसूत्रों का उल्लेख किया है। ये नटसूत्र नटों की शिक्षा के लिये रचित स्वतन्त्र सूत्र थे। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने दो नाट्यशास्त्रों का भी उल्लेख किया है। एक नाट्यशास्त्र के रचयिता शिलालिन्[25] थे तथा दूसरे के कृशाश्व।[26] यह भी ध्यातव्य है कि पाणिनि ने मात्र अष्टाध्यायी की ही रचना नहीं की थी अपितु उन्होने 'जाम्बवती बध' नामक नाटक का भी प्रणयन किया था। इसकी स्पष्टता एक श्लोक में व्याप्त है।[27] उक्त नाटक के विषय में काशिका में लिखा है कि उस नाट्य ग्रन्थ को आम्नाय अथवा छन्दः जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। शिलाली अथवा कृशाश्व आदि के द्वारा जो नाट्यशास्त्र अस्तित्व में लाया गया वह प्रतिष्ठा में किसी आम्नाय ग्रन्थ से कम न था।[28] भरत के नाट्यशास्त्र में नटों को 'शैलालक' कहा गया, पाणिनि ने उन्हें 'शैलालिनः' कहा। ध्यातव्य है कि भारतवर्ष की यह प्रथा है कि कोई भी

महत्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ विलुप्त नहीं होता अपितु वह अवान्तरकालीन ग्रन्थों में विलीन हो जाता है। इस साहित्य परम्परा को प्रतिसंस्कार संज्ञा प्रदान की गयी। इस बात की अधिक संभावना प्रतीत होती है कि शिलालिन् के नटसूत्रों की सामग्री वर्तमान नाट्यशास्त्र में परिगृहीत कर ली गयी हो। उस विषय का अध्ययन ऋग्वेद के चरण के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। शिलालि–चरण के अन्तर्गत एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास हुआ था। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में उसे शौलालि ब्राह्मण कहा गया है।

पंतजलि–कृत महाभाष्य में सम्बन्धित विषय की सामग्री की प्रचुरता है। 'कंस चातयति' (कंस को मारता है) 'बलि बन्धयति' (बलि को बाँधता है) में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया का समाधान प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार ने उन नटों (शोभनिक या सौभिक) का उल्लेख किया है जो प्रत्यक्ष रूप से सबके सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं। पतंजलि मात्र नाम का ही उद्घाटन नहीं करते अपितु अभिनय की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि 'कंस–वध' नाटक में कंस के भक्त लोग काला मुख बनाकर अभिनय करते हैं और कृष्ण के अनुयायी अपना मुख लाल रंग से रंगकर अभिनय करते हैं।[29]

वात्सयायन ने कामसूत्र में नागरिकों का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मन्दिर में उत्सव (समाज) के होने पर तथा उस समय बाहर से आये हुए कुशीलवों (नटों) द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है।[30] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो नाटक मंडलियों के कार्य तथा उनकी व्यवस्था का पर्याप्त वर्णन है।अर्थशास्त्र में विवृत है कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमित्र (ऐन्द्रजालिक) और चारण आदि की विभिन्न मण्डलियाँ गा–बजा और नाटक दिखाकर जीविकोपार्जन किया करती थीं। इन मण्डलियों को राज्य में प्रविष्ट होने से पूर्व निर्धारित राजकर अदा करना पड़ता था। कौटिल्य ने तो इस तथ्य का भी उद्घाटन किया है कि राज्य की ओर से नटों की शिक्षा की व्यवस्था होती थी।[31] ईसा पूर्व की शताब्दियों में रचित आरम्भिक बौद्ध–ग्रन्थों से विदित होता है कि उस समय नाट्यकला का भारत–व्यापी प्रचार हो चुका था। दीघनिकाय में विभिन्न प्रकार के मनोरंजन सम्बन्धी शब्दों की सूची मिलती है। अवदानशतक में एक रूपक के रंगमंच पर प्रदर्शित करने का स्पष्ट उल्लेख है। विनयपिटक के चुल्लवग्ग की एक शाखा में विवृत है कि अश्वघोष तथा पुनर्वसु नामक दो भिक्षु कटागिरि की रंगशाला में अभिनय देखने के बाद नर्तकी से प्रेमालाप करते पकड़े गये थे। परिणामतः उन्हें विहार से बहिष्कृत किया गया। जैन ग्रन्थों में भी इस भाँति के सन्दर्भों का अभाव नहीं है। रायपसेणीसुत्त में बत्तीस प्रकार के अभिनयात्मक नाटक का उल्लेख है। महावीर स्वामी के लगभग 200 वर्षों के बाद भद्रबाहु द्वारा रचित 'कल्पसूत्र' में जैन साधुओं के लिए नाटक देखने का निषेध किया गया है। ये तथ्य इसके पुष्ट प्रमाण हैं कि प्राचीन काल में वैदिक युग से ही नाट्यकला का उद्भव हो चुका था जो शनैः शनैः परिष्कृत होती हुई प्रकृष्ट एवं प्रगल्भ हो गयी।

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी दो दृष्टिकोण विद्यमान हैं। पाश्चात्य विचारधारा के समर्थक विद्वान प्रो0 रिजवे का कथन है कि ग्रीक देश में नाटक (ट्रेजडी) का जन्म मृत पुरुषों के प्रति किये गये सम्मान की प्रक्रिया से हुआ। प्राचीन भारत में नाटक की उत्पत्ति का आधार वीर–पूजा है । इसके प्रमाण स्वरूप उन्होंने रामलीला तथा कृष्ण लीला को प्रस्तुत किया है।[32] जर्मन विद्वान पिशेल ने नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से माना। उनके अनुसार 'सूत्रधार' तथा 'संस्थापक' आदि शब्दों का मूल अर्थ इस मत का पोषण करता है क्योंकि सूत्रधार का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला।'' प्रो0 लूडर्स तथा स्टेनकोनोव ने भारतीय नाटकों का विकास छाया नाटकों से माना।[33] डॉ0 कीथ ने नाटक की उत्पत्ति के विषय में एक नवीन अवधारणा व्यक्त की है। उनके मत में प्राकृतिक परिवर्तनों को जन साधारण के सम्मुख मूर्त रूप से दिखाने के लिये नाटकों का जन्म हुआ। उनके अनुसार महाभाष्य में निर्दिष्ट 'कंस वध' नामक नाटक के अभिनव से इसकी पुष्टि होती है। डॉ0 कीथ के अनुसार इस नाटक का मुख्य उद्देश्य वसन्त ऋतु का हेमन्त ऋतु पर विजय दिखाना है। कृष्ण की विजय उद्विज जगत् के भीतर चेष्टा दिखाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक मात्र है। कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति पोलनृत्य से स्वीकार किया है। पश्चिमी देशों में मई का महीना उत्सवों से परिपूर्ण तथा आनन्ददायक होता है। इस महीने में एक स्थल पर एक लम्बा बांस गाड़ दिया जाता है। उसके नीचे स्त्री–पुरुष समूह नृत्य करता है तथा सानन्द दिन व्यतीत करता है। भारत में सम्पन्न होने वाला 'इन्द्र–ध्वज' उत्सव उसी की अनुकृति माना गया। प्रो0 हिलब्रान्ड लोकप्रिय स्वांगों से नाटकों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार स्वांगों के साथ मिलकर रामायण तथा महाभारत की कथाओं ने नाटक को जन्म दिया। जर्मन विद्वान डॉ0 बेवर तथा डॉ0

विंडिश का मत है कि संस्कृत नाटकों का उदय ग्रीक प्रभाव के परिणामस्वरूप हुआ। उनका कथन है कि सिकन्दर नाटकों का प्रेमी था। उसके दरवार में नाटकों का अभिनय बहुलता से होता था। इसी का प्रभाव भारतीय नाटकों पर है। डॉ0 विंडिश का कथन है कि न्यू एडिक कॉमेडी भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का प्रतीक है। इस प्रकार के सुखान्त नाटकों में समाज का विस्तृत चित्रण रहता है किन्तु ध्यातव्य है कि न्यू कॉमेडी तथा संस्कृत नाटकों में अति लघु साम्य है।

भारतीय परम्परा में भारतीय रंगमंच पर अभिनय के समय जिस पर्दे का प्रयोग किया जाता है उसके लिए अधिकांश विद्वज्जन 'जवनिका' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द के आधार पर कतिपय विद्वानों ने इसे यूनानी प्रभाव में उद्भूत स्वीकार किया किन्तु यह अवधारणा ग्राह्य नहीं है क्योंकि जवनिका नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द नही अपितु लोक–व्यवहार में प्रयुक्त एक साधारण शब्द है। यह शब्द 'जु' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ गति अथवा वेग है।[34] पुनः 'जवनिका' शब्द जकार से प्रारम्भ है यदि वह यूनानी प्रभाव से उद्भूत हुआ होता तो इसका प्रारम्भ यकार से होता तथा 'यवनिका' संज्ञा प्रदान की जाती। सच तो यह प्रतीत होता है कि आर्य–अनार्य–संघर्ष में आर्यों की विजय के बाद विजेता लोगों में विजय का जो स्वाभाविक उल्लास उत्पन्न हुआ होगा उसने उल्लासपूर्ण नृत्य को जन्म दिया होगा। यह भी ध्यातव्य है कि वेद सर्व प्राचीन लिखित ग्रन्थ हैं। इनकी रचना के समय आर्यों में उक्त स्मृति शेष रही होगी जिसका प्रथम उल्लेख वेदों में प्राप्त होता है। पुनः वेदों में प्राप्त किसी तथ्य को कालान्तर की कृतियों से उद्भूत मानना विप्रतिपत्तिपूर्ण होगा। इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि यूनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव परिलक्षित होता है। वहाँ नाटकों का अभिनव खुले मैदान में किया जाता था। जिस नाट्य–व्यवस्था में परदे की प्रथा ही प्रचलित न रही हो उससे किसी तथ्य के अनुकरण का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। भारतीय नाट्य कला को आर्यों की स्वतन्त्र चेतना का परिणाम मानना ही अधिक श्रेयस्कर होगा। कालान्तर में भास, कालिदास, अश्वघोष, शूद्रक, विशाखदत्त, भट्टनारायण, मुरारि तथा राजशेखर प्रभृत लेखकों ने स्वतन्त्र नाट्यग्रन्थों की रचना की।

नाट्यकला पर लिखित शास्त्रीय ग्रन्थों में भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' सर्व प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की ओर सर्वप्रथम एच0एच0 विल्सन ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया। अब तक 'नाट्यशास्त्र' अपने मूलरूप में अप्राप्त था। सन् 1861 से 1865 के मध्य प्रकाशित धनंजय के 'दशरूपक' की परिशिष्ट में प्रथमतः इसके कुछ अंश प्रकाशित हुये। नाट्यशास्त्र की एक मात्र तथा खण्डित प्रति प्राप्त हुई, अतः उसके स्वरूप निर्धारण की एक लम्बी श्रृंखला अस्तित्व में आयी। सन् 1874 ई0 में जर्मन विद्वान हेमान ने तब तक की उपलब्ध समाग्री के आधार पर एक वैदुष्यपूर्ण लेख प्रकाशित कराया जो सक्रिय अध्येताओं के लिये प्रेरणा–स्रोत सिद्ध हुआ। परिणामतः फ्रेंच विद्वान रंग्नों ने सन् 1880 ई0 में नाट्यशास्त्र के 17 वें अध्याय का सन् 1884 ई0 में 15 वें, 16 वें अध्याय का तथा कालान्तर में छठें–सातवें अध्याय का प्रकाशन कराया जो नाट्यशास्त्र का प्रथम अपूर्ण प्रकाशन था। इसके बाद उनके शिष्य ग्रोसे ने 1888 ई0 में 28 वें अध्याय तथा 1898 ई0 में प्रथम चौदह अध्यायों का प्रकाशन कराया। इसी क्रम में फ्रेंच विद्वान सिलवां लेवी ने अपने ग्रन्थ 'थियेटर इण्डियन' में 'नाट्यशास्त्र' के 18 वें से 22 वें तथा 34 वें अध्याय का विवेचनात्मक उपस्थापन अपने ग्रन्थ में किया किन्तु इसे अनुवाद अथवा सम्पादन नहीं स्वीकार किया जा सकता। विदेशी विद्वानों द्वारा प्रारम्भ इस कार्य का उद्ववहन भारतीय विद्वानों ने किया। सन् 1894 ई0 में पं0 शिवदत्त तथा पं0 काशीनाथ पाण्डुरंग राव ने निर्णयसागर प्रेस बम्बई से 37 अध्यायों वाला 'नाट्यशास्त्र' प्रकाशित कराया। सन् 1929 ई0 में बटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय ने चौखम्भा प्रकाशन बनारस से तथा श्री रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र के तीन भाग 1 से 7 (1926 ई0) 8 से 18 (1934ई0) तथा 21 से 27 (1954ई0) प्रकाशित कराये। 28 से 34 अध्याय का चतुर्थ भाग 1964 ई0 में प्रकाशित हुआ।

नाट्यशास्त्र के रचनाकार का प्रश्न वैमत्यपूर्ण है। कतिपय लोगों की अवधारणा है कि नाट्यशास्त्र भिन्न–भिन्न लोगों द्वारा खण्डशः प्रणीत हुआ है। कालान्तर में इसके संकलनकर्ता ने बीच के व्यवधानों को पूरित किया तथा 'नाट्यशास्त्र' का वर्तमान स्वरूप प्रस्तुत किया। पुरा भारतीय वाङ्गमय के कतिपय ग्रन्थों में भरत का नामोल्लेख नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में है तथा कतिपय ग्रन्थों में इसका अभाव है। परवर्ती कतिपय लेखकों ने 'भ' को भाव, 'र' को राग तथा 'त' को ताल का बोधक मानकर इसकी संज्ञा भरत माना तथा कहा कि नाट्यशास्त्र इन गुणों का नियामक एवं निर्धारक है। नवीनतम अवधारणा के अनुसार 'नाट्यशास्त्र' किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं है। अनेक रचयिताओं द्वारा रचित इस ग्रन्थ का संकलन तथा उसमें व्याप्त व्यवधानों का

उच्छेद, नाट्यप्रयोग में पारंगत विद्वान भरत के निर्देशन में हुआ था, अतः इसे भरत की रचना माना गया। आद्यन्त स्वच्छन्द तथा प्राञ्जल भाषा का संवहन करने वाले इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है कि इसमें कहीं भी अन्तर्विरोध अथवा वदतोव्याघात नहीं है। वर्तमान नाट्यशास्त्र छत्तीस तथा कुछ संस्करणों में सैंतीस अध्याय एवं 6 सहस्र श्लोक धारण करता है। रामकृष्ण कवि के अनुसार नाट्यवेद के वृहत् तथा लघु दो पाठ थे। वृहद् में 12 हजार श्लोक थे जिसकी रचना वृद्ध भरत ने की थी तथा इसे नाट्यवेद कहा गया। लघु में 6 हजार श्लोक थे जिसकी रचना भरतमुनि ने की तथा 'नाट्यशास्त्र' के नाम से आख्यात हुआ किन्तु अधिकांश विद्वान इस मत में श्रद्धा नहीं रखते। उनके अनुसार षट्साहस्री संहिता का ही पाठ प्राचीन पाठ है। कालान्तर में इसे परिवर्धित कर द्वादश साहस्री का रूप प्रदान किया गया। यमलाष्टक तंत्र तो नाट्वेद को छत्तीस हजार श्लोकों का संवाहक मानता है किन्तु इसके कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होते। धनञ्ज्य ने नाट्यशास्त्र के षट्साहस्री रूप को, तो भोजराज ने द्वादश साहस्री रूप को तथा अभिनव गुप्त ने षट् साहस्री रूप को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है।

रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र की 40 पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत की तथा इसके उत्तरी तथा दक्षिणी दो विभाजन किये। दक्षिणी को पूर्ववर्ती तथा उत्तरी को परवर्ती स्वीकार किया। सम्प्रति इसके निर्माणकाल का निर्धारण महत्वपूर्ण है। वर्तमान समय में प्रकाशित विभिन्न संस्करणों को निश्चित रूप से विविध सोपानों से संक्रामित होना पड़ा है तथा अनेक कालखण्डों में अनेक रूपों का भी समावेश हुआ होगा। पुनः सम्पादनकाल में भी अपपाठों की बहुलता सम्पादकों को व्यग्र करती रही होगी। आधारभूत पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि काल प्रामाणिक रूप से क्या है ? किस काल की प्रतिलिपि को प्रामाणिक मानकर इसके वर्तमान स्वरूप का निर्धारण किया गया है ? इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। प्रो0 डे का अनुमान है कि समावेशन की प्रक्रिया अति प्राचीनकाल में हुई होगी तथा प्रत्यक्ष रूप में आठवीं शताब्दी के अन्त में समाप्त हुई होगी। ग्यारहवीं शताब्दी तक इस पर टीकाएँ लिखी गयी होंगी क्योंकि 'अभिनव भारती' का काल दसवी शताब्दी ई0 है।[36] रामास्वामी शास्त्री ने कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा अमरसिंह के 'अमरकोश' के विवरणों तथा नामावली के आधार पर नाट्यशास्त्र के अध्याय 1 से 7 तक का स्वरूप कालिदास एवं अमरसिंह से पूर्व निर्धारित माना।[37]

ए0बी0 कीथ ने अश्वघोष तथा भास की रचनाओं को आधार मानकर इसके काल निर्धारण का प्रयास किया है। उनके अनुसार जिन प्राकृतों से नाट्यशास्त्र परिचित है, वे अश्वघोष के प्राकृतों के अवान्तरकालीन हैं। उनका अधिक सादृश्य भास के प्राकृतों के साथ है। पुनः नाट्यशास्त्र में अर्धमागधी को मान्यता प्रदान की गयी है जो इन दोनों नाटककारों की रचनाओं में तो पायी जाती है किन्तु कालान्तर के नाटकों में प्राप्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त भास ने एक नाट्यशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख किया है। सम्भव है भास एवं कालिदास दोनो वर्तमान नाट्यशास्त्र के किसी पूर्व रूप से परिचित रहे हों। भासने अपने नाटकों में 'नाट्यशास्त्र' के नियमों का अन्धानुकरण नहीं किया है जोइस तथ्य की ओर संकेत देता है कि अब तक 'नाट्यशास्त्र' नियामक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुआ था। कीथ अपने मत की दृढ़ स्थापना तो नहीं कर पाते तथापि इसे भास एवं कालिदास से पूर्व रखते हैं।[38]

प्रथमतः डॉ0 मनमोहन घोष ने 'नाट्यशास्त्र' का रचनाकाल ई0पू0 100 से ईसवी सन् 200 के मध्य माना था किन्तु कालानतर में उन्होंने अपना विचार परिवर्तित कर दिया तथा इसका रचनाकाल 500 ई0पू0 माना। उनकी मान्यता है कि नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्द, छन्दों में वैदिक पद्धति का साम्य, वाक्यालंकार का विधान, रामायण तथा महाभारत पौराणिक तत्वों का इसमें समावेश वाचस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि ई0पू0 500 तक यह ग्रन्थ अस्तित्व में आ चुका था। पुनः नाट्शास्त्र में जिन भारतीय भू–भागों के नामोल्लेख प्राप्त होते हैं उनकी संगति मौर्यकालीन नामों से अधिक बैठती है। पुनः भास ने अपनी कृति 'अविमारक' में नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है जो इसकी उक्त समय सीमा के निर्धारण में सहायक है।[39]

पी0वी0 काणे ने नाट्यशास्त्र के अन्तः साक्ष्यों के आधार पर यह कहा नाट्यशास्त्र एक कालिक रचना नहीं है इसके अध्याय 6–7 तथा 17–35 एक काल में प्रणीत हुये होंगे। अध्याय 6–7 के गद्य भाग तथा आर्याएँ कदाचित् 200 ई0पू0 तक न चुकी होगी तथा जब नाट्यशास्त्र ने विस्तृत रूप धारण किया होगा तो ये सब उसमें समावेशित हो गयी होगीं। अध्याय 1–5 तक के अंश इसमें 5वीं शताब्दी तक सम्पृक्त हो गये होंगे क्योंकि कालिदास, भवभूति तथा दामोगुप्त प्रभृत नाटककारों ने भरतमुनि को 'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता के रूप में स्वीकार

किया है। शेष अध्याय तीसरी तथा चौथी शताब्दी में अस्तित्व में आये होंगे। अतः नाट्यशास्त्रीय पाठ, प्रणेता और इसकी तिथि की समस्या को उलझा हुआ ही समझना चाहिये।[40]

हर प्रसाद शास्त्री[41] ने इसकी तिथि दूसरी शताब्दी ई0पू0 निर्धारित की है।[41] प्रो0 सिलवाँ लेवी ने अपने शोधपूर्ण निबन्ध में 'नाट्यशास्त्र' का रचनाकाल इण्डो–सीथियन–क्षत्रपकाल स्वीकार किया है। उनकी मान्यता का आधार 'नाट्यशास्त्र' में प्रयुक्त स्वामिन, सुग्रहीतनाम्नः, भद्रमुख आदि सम्बोधन हैं।[42] मोहम्मद इसराइल ने नाट्यशास्त्र को पांचवी शताब्दी ई0पू0 की रचना स्वीकार किया है।[43] डॉ0 मनमोहन घोष ने मोहम्मद इसराइल के मत की सम्यक् गवेषणा के बाद कहा कि उन्होने इस स्थापना को नवीन कलेवर प्रदान किया है।[44] डी0सी0 सरकार का कथन है कि चूँकि नाट्यशास्त्र में नेपाल तथा महाराष्ट्र का नामोल्लेख है, अतः इसे दूसरी शताब्दी ई0 के बाद की रचना स्वीकार करना चाहिये किन्तु पी0वी0 काणे ने इस मत का खण्डन किया है। वाचस्पति गैरोला ने कालिदास का काल प्रथम शताब्दी ई0पू0 तथा नाट्यशास्त्र की रचना इससे पूर्व स्वीकार की है। मैकडानेल ने नाट्यशास्त्र को काव्यशास्त्र का प्रचानतम ग्रन्थ स्वीकार करते हुए इसका रचनाकाल 600 ई0 के आस–पास निर्धारित किया है। आई0 शेखर की धारणा है कि नाट्यशास्त्र का जो रूप हमारे समक्ष है वह पहले इसी रूप में नहीं था। यह मूलग्रन्थ का संस्कृत एवं परिष्कृत रूप है। यह ग्रन्थ निरन्तर समावेशन की प्रक्रिया का परिणाम है जो 800 ई0 में पूर्ण हुई थी। उनके अनुसार नाट्यशास्त्र के प्रथम पाँच अध्याय तथा अन्तिम दो अध्याय प्रक्षिप्त हैं। शेष अध्याय अपेक्षाकृत प्राचीन हैं और नाट्यशास्त्र अपने मूल रूप में 200 ई0पू0 तक अस्तित्व में आ चुका था।[45] पी0आर0 भण्डारकर ने अपने एक शोधपूर्ण लेख में कहा कि नाट्यशास्त्र अमरकोश की उत्तरकालीन रचना है। उन्होंने भरत, कालिदास तथा अमर द्वारा संगीत सम्बन्धी 'मार्जना' तथा 'मूर्छना' शब्दों के प्रयोग के आधार पर इन तीनों का समय निर्धारित किया है। कालिदास की कृति में 'मूर्छना' शब्द का प्रयोग प्राप्त है किन्तु 'अमरकोश' कालिदास से पूर्व प्रणीत हो चुका था। 'मूर्छना' शब्द का प्रयोग भरत तथा कालिदास दोनों ने किया है किन्तु यह भी अमरकोश में नहीं है, इससे भी अमरकोश का पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है।[46] इस तथ्य को स्वीकार करने में सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति यह है कि परम्परानुसार अमर, कालिदास के समकालीन माने जाते हैं। यदि इस समय को 100 वर्ष और पीछे कर दिया जाय तब भी भण्डारकर के अनुसार नाट्यशास्त्र का समय 400 ई0 से पहले नहीं निर्धारित किया जा सकता।[47]

उक्त अध्ययन इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि 'नाट्यशास्त्र' के अध्येताओं ने 'नाट्यशास्त्र' के अन्तः तथा बहिः साक्ष्यों के आधार पर इसकी तिथि के निर्धारण का यथाशक्य प्रयास किया तथापि उनका संकेत है कि इस विषय में भावी अध्येताओं के लिये अभी कार्य शेष है। कतिपय विचारक इसके मूल रूप पर विचार करते हैं तो कतिपय विचारक इसके समावेशित रूप पर। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके मूलरूप के आधार पर ही इसकी तिथि का निर्धारण अभीप्सित होगा क्योंकि पुरा वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश समावेशित हुये किन्तु उनका काल–निर्धारण मूल रूप के आधार पर ही किया जाता है। जहाँ तक यह प्रश्न उद्भूत होता है कि नाट्यशास्त्र एक व्यक्ति की कृति है अथवा एकाधिक व्यक्ति की ? यदि ये बहुश्रुत भरत हैं तो कौन से भरत है ? क्योंकि एक तो वैदिक युगीन भरत जाति थी। दूसरे शकुन्तला–पुत्र भरत हैं, तीसरे नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत हैं तथा चौथे मान्धाता के पौत्र भरत है। वैदिक जाति परक भरत तथा दौष्यन्ति भरत की संभावना विद्वान नकार चुके हैं। अब मात्र दो ही विकल्प शेष बचते हैं– एक वह तत्वदर्शी ऋषि जिसे भरतों (नटों) ने समादर दिया तथा दूसरे वह व्यक्ति विशेष जिसे भरतगण अपना आचार्य स्वीकार करते हैं। भरत को कोई महात्मा या नट समझा जाना भी औचित्यपूर्ण न होगा। एक पौराणिक व्यक्ति नाट्यशास्त्र प्रणेता होगा, यह सहज स्वीकार्य नहीं है। इस समस्या का समाधान 'नाट्यशास्त्र' के अन्तः साक्ष्यों के आधार पर करना श्रेयस्कर होगा। 'नाट्यशास्त्र' में भरतपुत्र के रूप में भरत या भरतों का सामूहिक रूप से स्मरण किया गया है।[48] वैदिक सूत्रों में भी मण्डलों के रचयिता के रूप में कुल विशेष का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के रचयिता के रूप में कुल विशेष का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के रचयिता के रूप में वासिष्ठों का उल्लेख किया गया है जो वसिष्ठ कुल के हैं। इस आधार पर इस संभावना को बल मिलता है कि 'नाटयशास्त्र' भरतगण की रचना है। सर्वप्रथम मंचन करने वाला भरतकुल ही रहा होगा जो नाट्य प्रतिभा से सम्पन्न रहा होगा। एक समय ऐसा आया होगा जब इस परिवार ने अपनी क्षमता, प्रतिभा और परम्परा खो दिया होगा। कालान्तर में नहुष के संरक्षण में मंचन की सुदृढ़ परम्परा पुनर्जीवित हई होगी। 'नाट्यशास्त्र' में ऐसे भी सन्दर्भ विद्यमान हैं जिनसे भरतकुल के अतिरिक्त दृश्य–व्यवस्थापक, विदूषक, गायक, नर्तक, मंच, व्यवस्थापक, निर्माता, वेशभूषा,

विज्ञचित्रकार, आदि का बोध होता है।[49] इनको भरत कहने का मूल कारण यह था कि इनसे नाटक का भरण होता था। वे सम्पूर्ण मंचन में मंच–निर्माण से लेकर रंगपूजन तक सक्रिय रहते थे। भरत अथवा भरत कुल के लिये इससे भिन्न आशय संगत न होगा।

सन्दर्भ सूची

1	दृश्यं तत्राभिनेत्रं तद् रूपरोपातु रूपकम्।	साहित्य दर्पण 6.1
2	सदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेष साकल्यात्	वामन काव्यालंकार सूत्र 1. 130–131
3	नाटकमथ प्रकरणम् भाणव्यायोगसमवकारडिमाः। ईदामृगाड्रुवीथ्यः प्रहसनमिति रुपकाणि दश।	साहित्य दर्पण
4	त्रैलोकस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्	नाट्यशास्त्र 1.104
5	नाट्यशास्त्र	1.7–12
6	नाट्यशास्त्र	1.16–17
7	वही	1.55
8	वही	1.65
9	वही	1.100–104
10	वही	1.105–107
11	ऋग्वेद	10.10
12	वही	10.95
13	वही	10.108
14	वही	1.165 तथा 170
15	वही	3.33
16	वही	10.86
17	वही	1.179
18	कीथ, ए0बी0,	संस्कृत ड्रामा पृष्ठ–112
19	मैक्सबेबर, इण्डियन लिटरेचर	पृ0–111, 196, 197
20	गैरोला, वाचस्पति, संस्कृत साहित्य का इतिहास	पृष्ठ–447–48
21	नाराजके जनपदे प्रकृष्ट नटनर्तकाः	रामायण 2.67.15
22	रामायण	2.60.63
23	आनर्तीश्च तथा सर्वे नट नर्तक गायिकाः	महाभारज वनपर्व 15.13
24	हरिवंश	अध्याय 91–97
25	पाराशर्यशिलालिभ्याम् भिक्षु नटसूत्रयों	अध्टाध्यायी 4.3.110
26	कर्मन्दकृशाश्वादिनिः	अष्टाध्यायी 4.3.111
27	स्वस्ति पाणिनये तस्मै येन रूद्रप्रसादतः। आदौ व्याकरणं प्रोक्तं ततो जाम्बबतीजयम्।।	
28	अष्टाध्यायी	3.110–111
29	ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंस धातयन्ति प्रत्यक्षं च बलि बन्धयनित इति। ..... अतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित् कंस भक्ता भवनित, केचिद् वासुदेव भक्ताः वर्णान्यत्वं खलु पुण्यनित। केचिद् रक्तमुखा भवन्ति, केचिद् कालमुखाः।	महाभाष्य 3.1.26
30	कामसूत्र	1.4.28.31
31	गीतं वाद्य–पाठ्य–वृत्त नाट्याक्षर .....रङ्गोपजीविनश्च।	अर्थशास्त्र

32	कीथ संस्कृत ड्रामा	पृ0—45—48
33	स्टेनकोनोव, सेडो प्ले, दास इण्डीस ड्रामा	पृ0—45—46
34	अष्टाध्यायी	3.2.50
35	वीरराघव कृत उत्तररामचरित की टीका,	पृ0—122
36	संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास,	भाग—1, पृ0—23
37	In any case, it seems to be certain that the text of these 7 chapters of the Natya shastras as available today appears to have existed, having atleast the same substance and the topics ever before Kalidas and Amar Singh in the 4th Century.	बड़ौदा से प्रकाशित— नाट्यशास्त्र के द्वितीय संस्करण की भूमिका, पृ0—13
38	We have no certain information on poetics until it occurs as a subosdinate elencent in chapter XVI of the Brarliya Natya shastra wlick is essent ially a treatise of Dramatugh and which may be placed corgeeturally some what earlies Than Bhasa and Kalidas Though there is no strict proof of date.	A History of Sanskrit Literature Page - 372.
39	From the flowing tone of Bhas's Sanskrit and conversational style of the diologues which are short easy, graceful and coloquial, we are in blind to think that Sanskrit was so we lpase spoken language in Bhas's time and so we place him after panini before the letter's grammer got a strong toothold and probably before Katyayan.	नाट्यशास्त्र, मनमोहन घोष, पृ0—69
40	हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स,	पृ0—11—14
41	जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी बिहार	1913 पृ0—307
42	हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स	पृ0—39—41
43	संसकृत नाट्य सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष	पृ0—39
44	द न्यायाशास्त्र	पृ0—60
45	It is unfortunate that like his identity the issue of the authentisity of the text should have remained unsettled. Whatever may have been the nature of rehandling it is believed that text existed the seeond century B.C	संस्कृत ड्रामा पृ0—44
46	कान्ट्रीब्यूशन टु द स्टडी आफ ऐंशियन्ट इण्डियन म्यूजिक	
47	संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनालोचित पक्ष	पृ0—42—43
48	नाट्यशास्त्र	1.26—36
49	वही	25.66—69